http://www.jainkosh.org

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला–६६

आत्म-उपासना

रचयिता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

संपादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उ० प्र०)

चतुर्थ संस्करण २२००] १९६२ [न्यौछावर २५ नये पैसे

Version-1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रचयिता

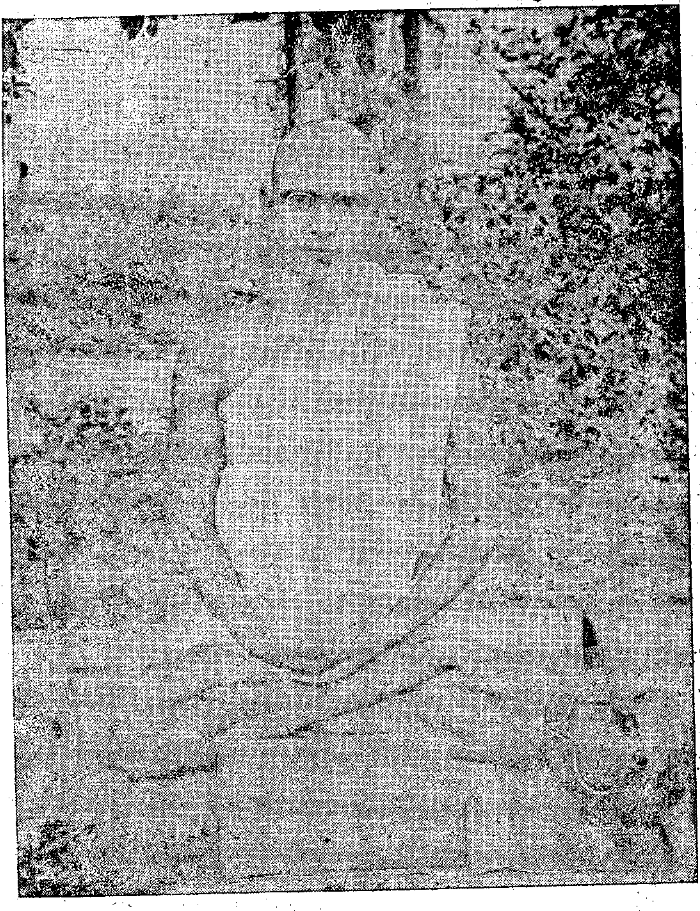

त्यागमूर्ति पूज्य क्षुल्लक श्री १०५ मनोहरजी वर्णी न्यायतीर्थ

(जन्म कार्तिक बदी १० सं० १९७२)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-उपासना
SOUL-ADORATION

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम।
ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान्।
जो मैं हूं वह हैं भगवान् ॥
अन्तर यही ऊपरी जान।
वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान।
अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आश वश खोया ज्ञान।
बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन।
मोह राग रुष दुःखकी खान ॥
निजको निज परको पर जान।
फिर दुःख का नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम।
विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुँचू निज धाम।
आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम।
मैं जगका करता क्या काम ॥
दूर हटो परकृत परिणाम।
सहजानंद रहूँ अभिराम ॥५॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्म-कीर्तन का भावार्थ

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम,
ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

भावार्थ—मैं आत्मा जिसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श तथा जो अनादि कालसे है और अनंत काल तक रहेगा, शरीरसे भी जुदा है, इन्द्रियों से जाननेमें नहीं आता, परन्तु विषय-कषायोंमें उपयोग न होनेपर अपने ही सहज ज्ञान द्वारा अनुभवमें आता है, ऐसा मैं आत्मा स्वतंत्र हूं, अर्थात् किसीके भी आधीन मेरा परिणमन, सुख, दुःख आदि नहीं है। मैं अपनी ही करनी को करता और उसका फल भोगता हूँ तथा भविष्यमें स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित होकर मुक्त होऊंगा।

निश्चल हूं—अनादिसे लेकर अब तक कितने ही भवोंमें भटका, कितने ही कषायोंसे दबा तथापि मेरा चैतन्यस्वरूप चलायमान नहीं हुआ, मैं अचेतन नहीं हुआ और निश्चल ही रहूंगा।

निष्काम हूँ—काम, कामना, इच्छासे रहित चैतन्यस्वभावी हूं। ऐसा मैं आत्मा ज्ञाता; दृष्टा हूँ—जानने देखने स्वभाव वाला हूँ।

मैं वह हूं जो हैं भगवान्,
जो मैं हूं वह हैं भगवान् ॥
अन्तर यही ऊपरी जान,
वे विराग यह रागवितान ॥१॥

भावार्थ—मैं जैसा शक्तिरूप हूँ, भगवान्का वैसा स्वरूप व्यक्त है तथा जो भगवान्का स्वरूप व्यक्त है, वह मेरा स्वभाव है, परन्तु मुझमें और परमात्मामें केवल यह ऊपरी अंतर है जो वहां राग नहीं है और यहां रागका फैलाव है।

यह अन्तर ऊपरी है क्योंकि स्वभावमें भेद नहीं। यदि राग मेरे स्वभावमें आजाय तब रागादि कभी हट नहीं सकते, फिर तो धर्म, तप, व्रत सब व्यर्थ हो जायेंगे और आत्माके उत्थानका मार्ग ही न रहेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मम स्वरूप है सिद्ध समान ।
अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान ।
बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

भावार्थ—मेरा स्वरूप परम पवित्र शुद्ध स्वरूप सिद्ध भगवान्के समान है; अनंतशक्ति,अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शनका भंडार है; जो कि मुझमें अनंत कालसे विद्यमान हैं; किन्तु अत्यन्त भिन्न पर-पदार्थोंकी आशाके वश होकर अपने ज्ञानको भुला दिया है, अतएव अन्य गुणोंको भी गमा दिया है और बिल्कुल अज्ञानीसा होकर भिखारी अर्थात् पर-पदार्थोंकी आशा करने वाला बन गया ।

सुख दुःख दाता कोइ न आन ।
मोह राग रुष दुःखकी खान ।।
निजको निज परको पर जान ।
फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

भावार्थ—सुख और दुःखका देने वाला अन्य कोई नहीं है, मेरा मोह, राग और द्वेष भाव ही दुःखकी खान है । हे आत्मन् ! अब निजको निज और परको पर समझो, फिर दुःखका कोई कारण ही न रहेगा ।

वास्तवमें यह भ्रम ही क्लेश बढ़ाता है कि 'मुझे सुख और दुःखका देने वाला कोई दूसरा पदार्थ है और मैं दूसरोंको सुख दुःख देने वाला हूं । क्योंकि इन भावोंमें दीनता और अहङ्कार भरा हुआ है जो कि आकुलता करता है । इस भावको समाप्त करो और अपने व जगत्के स्वरूपको ठीक समझो ।

जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम ।
विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम ।
आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।

भावार्थ—जिन अर्थात् जिन्होंने राग द्वेषादि कषायोंको जीत लिया है, शिव—जो स्वयं सुखस्वरूप है, ईश्वर—जो स्वयं अपनी अवस्थाओंको करनेमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रभु है, राम—जिस स्वरूपमें योगिजन रमण करते हैं, विष्णु—जो अपनी ज्ञान क्रियामें सर्वत्र व्यापक है, बुद्ध—जो सर्वज्ञाता है, हरि—जिसने पाप मलको हर लिया है—ये सब जिसके नाम हैं, ऐसे आत्माके स्वभावमें यदि परविषयक रागादि छोड़कर मैं पहुंचूं, फिर उस दशामें आकुलताका क्या काम है अर्थात् वहां आकुलता नहीं रहती।

होता स्वयं जगत परिणाम।
मैं जगका करता क्या काम॥
दूर हटो परकृत परिणाम।
'सहजानंद' रहूं अभिराम॥५॥

भावार्थ—संसारके समस्त द्रव्योंका परिणमन स्वयम् (अपने अपने उपादान से) हो रहा है, मैं उनका क्या काम कर रहा हूँ, अर्थात् मैं किसी भी पदार्थमें मिलकर नहीं परिणमता। हाँ, जिस पदार्थका जो परिणाम होता है, वहां अन्य द्रव्य चाहे दूसरा हो या मैं होऊं, निमित्त रहता है।

अन्यकी तो बात ही दूर रही, जो इस संसार अवस्थामें राग द्वेषादि भाव होते हैं वे परके निमित्तसे होते हैं, अतः उन रागादि भावस्वरूप भी मैं नहीं हूं। ये परकृत परिणाम दूर हटें और मैं सहज-आनन्दस्वरूप निज स्वभावको आत्मामें नितान्त अनुभव करूं।

—:o * o:—

२—अपनी बातचीत

"अयि आत्मन्! तू क्या है? विचार! ज्ञानमय पदार्थ!! तेरा इन दृश्योंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ? नहीं, नहीं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं। क्यों नहीं? यों कि "कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता"।

मैं ज्ञानमय आत्मा हूं, हूं, स्वयं हूँ, इसलिये अनादिसे हूँ, मैं किसी दिन हुआ होऊं, पहिले न था यह बात नहीं। न था तो फिर हो भी नहीं सकता।

फिर ध्यान दे, इस नर जन्मसे पहिले तू था ही! क्या था? अनंत काल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो निगोदिया था। वहाँ क्या बीती ? एक सेकिण्डमें २३ बार पैदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, मन तो था नहीं और था शरीर ! ज्ञानकी ओरसे देखो तो जड़सा रहा, महासंक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुर्दशासे निकला।

पृथ्वी हुआ तो खोदा गया, कूटा गया, तोड़ा गया, सुरंगसे फोड़ा गया, जल भी तो तू हुआ, तब ओटाया गया, बिलोया गया, गर्म आग पर डाला गया। अग्नि हुआ, तब पानीसे, राखसे, धूलसे बुझाया गया, खुदेरा गया। वायु हुआ तब पंखोंसे, बिजलियोंसे ताड़ा गया, रबर आदिमें रोका गया।

पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब•••काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया। कीड़े भी तुम्हीं बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी, बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवायें भी डाल डाल कर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोंसे, खूरोंसे दबोचा व मारा गया।

बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ, कैसे दुःख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठंडों मरे, गर्मियों मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये।

शूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोंको छुरी भोंककर। कही तो जिन्दा ही आगमें भूने जाते हैं।

यह दूसरोंकी कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई ? मोह बढ़ाये, कषायकी, खाने पीने विषयोंकी धुन रही, नाना कर्म बांधे, मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य सेवन किये। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य-जन्म, मिला तब यहाँ भी मोह द्वेष विषय कषायकी ही बात रही। तब•••जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर हैं।

कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट्, महान् धन-पति होकर अनेक संपदा पाई, परन्तु वह सभी संपदायें थीं तो असार और क्लेशकी कारण; इतने पर भी उन्हें छोड़कर मरना ही तो पड़ा।

अब तो पाया ही क्या ? न कुछ, न कुछमें व्यर्थ लालसा रखकर क्यों अपनी सर्व हानि कर रहे हो ?

आत्मन् ! तू स्वभावसे ज्ञानमय है, प्रभु है, स्वतन्त्र है, सिद्ध परमात्माकी जातिका है। क्या कर रहा है ? उठ चल, अपने स्वरूपमें वस !

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तू अकेला है, अकेला ही पुण्य-पाप करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही शुद्धस्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता।

देख ! चेत ! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयंमें आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है। वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमें मग्न होनेकी धुन रख !

सोच तो यही सोच—परमात्माका स्वरूप, उसकी भक्तिमें रह। लोगोंको सोच तो उनका जैसे हित हो, उस तरह सोच।

बोल तो यही बोल—शुद्धात्माका गुण गान···इसकी स्तुतिमें रह। लोगों से बोल तो हित, मित, प्रिय वचन बोल।

कर तो ऐसा कर, जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बना।

तू शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, सहज भावका अनुभव कर ! जार जप— "ॐ शुद्धं चिदस्मि"

—:० ❋ ०:—

३—वास्तविकता

१—१०४२. जगत्में अनन्त आत्मा हैं और उससे अनन्तगुणे जड़-परमाणु हैं।

२—१०४३. वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादि कालसे हैं व अनन्तकाल तक रहेंगे।

३—१०४४. प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् है, किसीकी कृपा या असरसे नहीं।

४—१०४५. प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी परिणतिसे ही परिणमते हैं, दूसरोंकी परिणतिसे नहीं।

५—१०४६. आत्माकी दो अवस्थाएं होती हैं, पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

६—१०४७. जहां आत्माके परमें आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमें रुचि है, वह उसकी अशुद्धावस्था है।

७—१०४८. जब आत्मा संकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है, ज्ञातामात्र रहता है तब वह उसकी शुद्धावस्था है।

८—१०४९. प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, किसीके स्वरूप में किसीका प्रवेश नहीं है।

९—१०५०. शरीर और आत्माका सम्पर्क होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमें होना अज्ञान दशाका फल है।

१०—१०५१. अणुओंका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चाँदी, शरीरादि स्कंधरूपमें होना, उनकी विकार परिणतिका फल है।

११—१०५२. आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नहीं होता, परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता।

१२—१०५३. आत्माके विकारका कारण पूर्व विकार है, अणुके विकारका कारण अणुके स्निग्ध रूक्ष गुणका परिणमन है।

१३—१०५४. किसी भी आत्मा या स्कंधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःखका कारण है।

१४—१०५५. आत्मामें उठने वाली रागद्वेषादि तरङ्गें स्वभावसे नहीं है, इस लिये नाशवान् हैं व दुःखस्वरूप हैं।

१५—१०५६. पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, जिसमें सामान्य अंश तो ध्रुव है, और विशेष अंश अध्रुव है।

१६—१०५७. द्रव्यके त्रैकालिक; एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते हैं और उसकी प्रतिसमयकी अवस्थाओंको विशेष कहते हैं।

१७—१०५८. सामान्यकी दृष्टिमें विकल्प नहीं, विशेषकी दृष्टिमें नाना विकल्प हैं।

१८—१०५९. जीवके गुणोंका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओंमें इसी कारण परस्पर विलक्षणता नहीं होती।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

१९—१०६०. मुक्तात्मा पूर्ण समान है पूर्ण सर्वज्ञ है जिनकी सत्य उपासना होनेपर उपासकके उपयोगमें कोई व्यक्ति नहीं रहता ।

२०—१०६१. जिस भावमें व्यक्ति नहीं, उस भावमें परमात्मा एक है, वह भाव है—शुद्ध चैतन्य भाव ।

२१—१०६२. कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्धचैतन्यभावरूप ब्रह्ममें मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्तावाला नहीं रहता ।

२२—१०६३. यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही 'ॐ तत्सत्' है, यही "सत् चिद् आनन्द" है, यही "सत्यं शिवं सुन्दरम्" है ।

—:o ❀ o:—

४—व्यर्थ का ऊधम छोड़ो और सुखी होओ

आत्मन् ! क्या कष्ट है, जिससे अपनेको परेशान अनुभव करते हो । व्यर्थके ऊधम मनमें बसाये कोई, तो दुःख होना प्राकृतिक ही है । परन्तु तुममें, स्वयंमें कोई विपदाकी बात नहीं और न तेरा विपदाका स्वभाव है, जो जैसा है मानते जावो, फिर दुःखका कोई काम ही नहीं ।

लोक शरीरको स्वस्थ रखना चाहता है, किन्तु आत्माके स्वास्थ्यपर कोई लक्ष्य नहीं । विधिविधान, निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे देखो तो आत्माके स्वास्थ्यपर शरीरका स्वास्थ्य भी निर्भर है । आत्मा स्वस्थ है तो या तो शरीर स्वस्थ रहेगा अथवा शरीर ही न मिलेगा, फिर दुःस्वास्थ्यका झगड़ा ही समाप्त है ।

कोई किसीको तुच्छ न समझे । जो समझमें आता है वह तो पर्याय है । आज पर्याय किसीकी निम्न है तो कभी उच्च हो जावेगी अथवा उच्च नीच अवस्थाको क्या निरखते हो ? यह ऊधम छोड़ो । यदि ऐसे ही निरखते रहोगे तो ऐसे ही बनते रहनेकी संतति प्राप्त होगी । सबमें चैतन्यसामान्य देखो और देखो प्रभुको जो कि कारणपरमात्मा है व सहज स्वभाव है । मन तो जड़ है तब मनके निमित्तसे जो परिणाम बनेंगे वे आत्मामें हुए इससे चाहे जड़ न कहो, किन्तु स्वभावका मुकाबिला करो तो जड़ हैं । जड़से ममत्व न करना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

THE PSALM OF THE SOUL

Constant ! Wishless ! Absolute ! Free.
Knower ! Seer ! Soul is me. 0

I am what Supreme Being is ;
What myself is that God is ;
With this sole apparent difference.
Here—"Passions", there-Indifference. 1

My real Self like Siddhas is ;
Infinite Power ! Knowledge ! and Bliss !
Losing knowledge, being aspirant,
I am left a beggar—ignorant. 2

None elso bestows pain and pleasure.
'Love' and 'Anger' are grief's treasure.
"Self" from "Non-Self" distinguish,
And then there is no anguish. 3

Whose name Buddha, Rama, Ishwar, Jina,
Brahma, Vishnu, Hari or Shiva—
Leaving passions, reach "the Goal"
No distress then in the soul. 4

World does function by itselt,
What work of it does my self ?
Alien influence ! Do get away !
In Bliss for-e'er may I stay !! 5

0—I am a soul, free, immutable, without craving—All Knowledge and all Perception.

Commentry

I, the Soul,-without colour, taste, smell or touch; existing from eternity and everlasting; distinot from even the body;

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

याने विचारसे, विभावसे ममत्व न करना। विभावोंकी ममता जगतकी जननी है। व्यर्थका ऊधम छोड़ो, अपना मूल संभालो।

(सहजानन्द डायरी २५-१-५७)

—:*:—

५—अपनी सच्ची प्रसन्नता ही आनन्द है

जीवनका विश्वास क्या? कब तक यह मनुष्य-जीवन है। पानीके बुलबुले का विश्वास क्या? कब तक वह ठहरा रहता है। बुलबुलेके ठहरने में आश्चर्य है, नष्ट होनेमें आश्चर्य नहीं। मनुष्य जीवन अब तक बना रहा, इसमें आश्चर्य है, इसके नष्ट होनेमें कोई आश्चर्य नहीं।

जब तक जीवन है, जो करना हो झट करो। क्या करना उत्तम है? धन जोड़ लेना? नहीं, यह तो सब यहीं पड़ा रह जायगा। इज्जत बढ़ा लेना? नहीं, इज्जत करने वाले भी यहीं रह जायेंगे या तुमसे पहिले चल देंगे। इज्जत की चेष्टा इज्जत करने वालोंकी परिणति है और इज्जत मानना यों मरने वालेकी परिणति है। मरणके बाद इज्जत करनेवाले साथ नहीं जाते और न इनकी चेष्टाका कुछ भी निमित्त बनता। इज्जत माननेकी परिणतिमें जो पाप कर्म कमा लिया जाता, उसका फल उसे परलोकमें मिलेगा और इज्जत मानने की स्थिति स्वप्नकी रह जायगी।

इस जगतमें किसीका कोई शरण नहीं याने किसीका कोई कुछ भी नहीं करता। होना भी यही चाहिये, अन्यथा सर्वनाश हो जायगा। सर्व सर्व इसी कारण हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टयसे बाहर नहीं जाता, प्राणी ही मान्यतामें अपने चतुष्टयसे बाहर चला जाता है। इसी कारण यह आज तक संसार भ्रमण कर रहा है।

परकी चेष्टाओंसे अथवा परके प्रसन्न करनेके प्रयाससे स्वयंको कुछ लाभ नहीं मिलता। परकी विरुद्धतासे अथवा परकी अप्रसन्नतासे स्वयंको कुछ हानि भी नहीं पहुंचती।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपनी प्रसन्नतासे अपना लाभ है, अपनी अप्रसन्नतासे अपनी हानि है। प्रसन्नताका सही अर्थ निर्मलता, स्वच्छता है। इसी में सत्य आनन्द है। ॐ सच्चिदानन्दाय नमः, ॐ नमः सच्चिदानन्दम्, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

(सहजानन्द डायरी ३०-१-५७)

—: ❀ :—

६—मैं अपने वर्तमान भावको निर्मल करूं

१—मैं शरीरसे अत्यन्त पृथग्भूत वस्तु हूं।

२—मैं इस शरीरको छोड़कर आगे रहूँगा, क्योंकि मैं हूं। जो "है" होता वह कभी नष्ट नहीं होता, केवल अपनी पर्याय बदलता रहता है।

३—मैं क्या रहूंगा? जैसा वर्तमान परिणाम कर रहा हूं, उस ही के अनुकूल किसी पर्यायमें रहूँगा।

४—मैं स्वतन्त्र सत्तावान् पदार्थ हूं। जगत्में सभी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत्तावान् है।

५—मैं स्वतन्त्र हूँ, अतः मेरा द्रव्य ही मैं हूँ, मेरा क्षेत्र ही मेरा प्रदेश है, मेरा परिणमन ही मेरा कार्य है, मेरी सहज शक्तियां ही मेरे गुण हैं।

६—मैं अपने चतुष्टयमय हूँ, अतः मैं इस शरीरसे भी उतना ही जुदा हूं जितना कि अन्य शरीरीसे जुदा हूँ। धन, मकान आदिका कुछ कहना तो बड़ी ही मूर्खता है, क्योंकि ये तो आबाल गोपालको भी प्रकट जुदे दीखते हैं।

७—मैं जिस भावमें अभी हूं, यह भाव द्वितीय क्षणमें नहीं रहेगा, यह भाव भी स्वप्नवत् है सो वर्तमान परिणाममें आसक्त होना मेरा कर्तव्य नहीं है।

८—मेरा कोई भी परिणाम एक समयसे आगे नहीं रह सकता, अतः भविष्यके भी किसी परिणाममें बुद्धि रखना मेरा कर्तव्य नहीं है।

९—मेरे भूतकालके परिणाम तो भूत ही हो गये, उनके सम्बन्धमें चित्त डुलाना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण विचार कहलाता है।

१०—सुख दुःख, मैं अपने वर्तमान परिणामसे करता हूँ, अतः किसी की

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

not perceptible to the senses, but capable of being experienced by own innate knowledge when inclination to passions and emotions is curbed--such a Soul, I--am 'free' Tnat is on none do my change activities, happiness, or misery depend. I do my own deed and bear its consequences and I shall attain Salvation by reposing in my own intrinsic nature. From eternity to the present day, I have wandered in innumerable births, and been overwhelmed by various emotions, yet my conscious characteristic has never wavered. I have not become non-living, and shall be ever steadbast or constant in my nature. Devoid of all lust, wish and desire, I am a pure conscious Self. Such a Soul, I am a Knower and a Seer—of a knowing and perceiving nature.

1--I am that which the Supreme Being is and the Supreme Being is what I am. The only apparent difference is that while He is absolutely without affections and emotions, my empirical Self is an expanse of them.

Commentry

That which is my nherent capacity, is the obvious expressed nature of the Supreme Being, or what the expresred nature of the Supreme pure Soul is, is my intrinslc characteristic, But there is only this apparent difference between me and the Supreme Soul that while there is no attachment or effection, here there is a wide range of passions and emotions.

This difference is only superficial, because intrinsically both are exactly similar. If passions become a part of my nature, they will be irremoveable; then religion, austerity, penances. and vows (self-denials) will all be futile, and there will be no way for the advancement of the Soul.

2--My real nature is like that of the Liberated Soul (*Siddha*) having Infinite Power, Infinite Bliss, and Infinite Knowledge. But under the influence of hope (*a h*) I have lost true perception, and become a beggar, entirely ignorant.

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आशा न रख वर्तमान परिणामको निर्मल करूंगा।

११—शुद्ध स्वभावकी दृष्टिमें वर्तमान परिणामको निर्मल करूंगा।

(सहजानन्द डायरी ६-२-५७)

७—आत्मक्रांति ! जिन्दाबाद !!

हे आत्मन् ! तुम ज्ञानमय ही तो हो, बस अब सर्वत्र ज्ञानका विलास होने दो, ज्ञानका साम्राज्य सत्य साम्राज्य है, अन्य तो सब आतङ्क ही है।

कोई जानता होगा कि रागका साधन मिल गया तो बड़ी कमाई पा ली। उस इन्द्रजालके उपयोगसे अपनी कितनी बरबादी कर ली; इस ओर चित्त ही नहीं डालता यह मोही प्राणी।

सुख एकाकीपनमें है। है भी तू प्यारे एक। भ्रम बुद्धिमें यह मनुष्य पर्याय का भी समय ही गुजार दोगे, तो मेरे शरण ! बताओ, कब नैया पार होगी ?

मनको मार, वचन मत बोल, कायसे तो तुझे करना ही क्या है ? एक बार तो ऐसा सांचा ढाल। फिर मनसे जो बन पड़ेगा, बचनसे जो बोला जायेगा, कायकी जो चेष्टा हो बैठेगी, उनसे तुम्हें बाधा न आवेगी।

अब तो पूरी पूरी ठान ले, स्वमें ही रत होना है। कर्मोंको हमने बाँधा था, कुछ ज्ञान होनेपर भी बांधा था—इस धैर्यके साथ कि बंध जावो, किसी भी समय थोड़ी ही वेलामें तुमसे अच्छी तरह निपट लेंगे। अब उस धैर्यका काम कर डालो।

मेरे आत्मन् ! तुमने दर्शन दिया, अब दर्शनके लाभसे वञ्चित न होने देना मुझे। इसके एवजमें यदि किसीको उपसर्ग करके बाधायें देकरके मन भरना है तो खूब भर लेवे। बन्दा इसके लिये सविनय तैयार है।

(सहजानन्द डायरी २१-४-५७)

—:*:—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

८–अपना प्रसाद

अमित अखण्ड अतुल अविनाशी। अच्युत अकल अमल अवभासी।
अचल अहेतु अछल अविकारी। अमर अनन्त अखिल अवतारी॥

हे प्रभो ! हे आनन्दघन ! तुम ही अनुपम तत्त्व हो, तुम ही ब्रह्म हो। अहं ब्रह्मास्मि।

हे देव ! देवाधिदेव ! निजरसनिर्भर ! सच्चिदानन्द ! जयवंत प्रवर्तो।

हे परमतत्त्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी परम हो जाती है।

हे निश्चलतत्त्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी निश्चल हो जाती है।

हे स्वतन्त्र तत्त्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी स्वतन्त्र हो जाती है।

हे स्वतः सिद्धतत्त्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

हे निर्विकल्प तत्त्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी निर्विकल्प हो जाती है। (सहजानन्द डायरी ४–५–५७)

—o: ❀ :o—

९–खुद ही खुद का उद्धारक है

हे आनन्दघन ! तेरे में आनन्दकी कोई कमी है ही नहीं, फिर आनन्दके लिये झुकता क्यों है ? यही तेरी बड़ी भूल है, यही तेरी पराधीनता है, यही सर्वहानि है।

आओ नाथ ! अब मेरे उपयोगमें सदा विराजे रहो। तेरे दर्शन बिना यह मैं दीन होकर अब तक भ्रमा हूँ। स्वभावके दर्शन पानेपर सर्व दीनता दूर हो जाती है।

ॐ नमः शिवाय शिवमयाय, ॐ नमः शिवदाय शिवमूलाय। हे चैतन्य-स्वभाव ! तेरी दृष्टि सुख उत्पन्न करती है, अतः तू ही शङ्कर है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

My nature is like that of the absolutely is pure and Emancipated Soul (*Siddha*) It is the embodiment of Infinite Power, Infinite Bliss, Infinite knowledge and Infinite Conation (Darshan) wich have been in existence in me since eternity, but under the Influence of the prospect of quite distinct foreign entities, I have lost that knowldge and conseouently the other attributes also, and in the bankruptcy have become a beggar, hoping for alien things.

3--None else affords Happiness or Misery. My own delusion, attachment and aversion are the source of anguish. Know the Self, as the Self and the Non-Self as None-Self and there is then no course for even the least distress.

Commentry

Actually this misapprehension that "some foreign object is the cause of my happiness or misery and I am the bestower of pleasure and pain on others", aggravates the grief As this feeling is full of indigence and pride, which causes uneasiness oh Self ! end this feeling and understand thine own and the world's real nature. Then there will be no occasion for anguish.

4—Once I renounce emotions and reach my goal--the Godly nature named as *Jina, Shiva, Ishwar, Brahma, Rama, Vishnu, Buddha* or *Hari*—there remains then no ground for uneasiness.

Commentry

If renouncing all alien attachments etc, I reach and repose in a Godly nature-described by such names as *Jina*, who have conquered gross emotions, passions and prejudices, *Shiva*, who is himself the embodiment of Bliss; *Ishwar*, who is the master architect of his states or conditions; *Rama*, the vision to which Yogies dedicate themselves in contemplation; *Vishnu*, who is omnipresent by virtue-of his cmniscience;

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हे चैतन्यस्वभाव ! तेरी दृष्टिके प्रसादसे चेतना विश्वाकाररूप निजका अनुभव करता है, अतः तू ही विष्णु है।

हे चैतन्यस्वभाव ! तेरी दृष्टिके प्रसादसे रागादि दोष सब जीत लिये जाते हैं, अतः तू ही जिन है।

हे चैतन्यस्वभाव ! तुम स्वयं स्वयंकी सृष्टिके उपादान कारण हो, अतः तू ही ब्रह्म है।

हे चैतन्यस्वभाव ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे सर्व पाप हरे जाते हैं, अतः तू ही हरि है।

हे चैतन्यस्वभाव ? तू ही सुख, दुःख, रागद्वेष, अज्ञान, ज्ञान आदि सृष्टियोंमें स्वतन्त्र समर्थ है, अतः तू ही ईश्वर है।

(सहजानन्द डायरी ७–५–५७)

—:o ❀ o:—

१८—विद्यार्थियों से

विद्यार्थी-जीवन संसारके समस्त प्राणियोंमें से केवल मनुष्यको ही प्राप्त होता है। अपनी उन्नतिका मार्ग बना लेना ही विद्यार्थी-जीवनकी विशेषता है।

विद्यार्थियोंकी उन्नतिके लिये संक्षेपमें बताया जाये तो यह है कि वे इन ३ ही बातोंपर अपना अधिकार जमा लें:—

(१) विनय, (२) ब्रह्मचर्य, (३) विद्याभ्यास।

विनय विद्योपार्जनका एवं स्वयंके व दूसरोंके अभ्युदयकी प्राप्तिका मूलमंत्र है। विनयसे विद्यायें अल्पप्रयाससे ही प्राप्त हो जाती हैं। गुरु एवं अन्य जनोंका आशीर्वाद एवं प्रसाद प्राप्त होता है। विनयशील कभी भी दुःखी नहीं हो सकता। विनय सेवासे आती है।

ब्रह्मचर्य—वीर्य शरीरका बल है और शुद्धभाव आत्माका बल है, यदि शरीर और आत्मा दोनोंकी ओरसे बलिष्ठ रहना है तो शुद्ध भावोंको बनावो व वीर्यकी रक्षा करो। अशुद्ध भाव होनेपर वीर्यकी रक्षा कठिन है। शुद्ध भाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

Buddha, who is All Knowing; *Hari*, who has washed away the filth of voice–then there remains no uneasiness or distress.

5—World transformations all occur by themselves. What work of the world do I do ?

Oh alien Manifestation ! Get away ! Let me remain for ever in my real blissful nature.

Commentry

The modifications of all entities of the Universe are taking place by their own causation. What am I doing to them ? Nothing That is to say, I am not functioning by becoming one with any entity. Of course in any modification which an entity has at the time, another entity—whether it be myself or any other may be acting as an auxiliary agent.

Other things apart even the psychic emotions of attachment and aversion in the empirical state, are the result of external auxiliary causes. I am therefore not assimilated in or identical with even these passions or emotions. These manifestations due to alien agencies should get away, and I may remain for ever in my eternally blissful, true and perfect nature.

TALK TO SELF

'Oh thou self !' What art thou ? Think; oh Embodiment of Knowledge !! Hast thou any connection with these scenes ? Really ? No ! No ! There is no connection whatsoever ! Why not ? Because—no one can bring about any change in another !!

I am the concious Self ! I am ! I Myself am ! Therefore from eternity ! Not that I may have come into being some day and was not before If I was not before, then I could never have become later.

Be attentive again ! Thou didst exist before this human birth ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वीर्यकी रक्षाके कारण हैं। अतः शुद्ध भाव व वीर्यरक्षा द्वारा ब्रह्मचर्यका अखंड पालन करो। एतदर्थ शुद्ध सात्विक आहार विहार करो।

विद्याभ्यास—विद्यार्थी-कालमें बुद्धिका ऐसा अपूर्व चमत्कार रहता है कि जो सीखो झट याद हो जाता है। इस अवसरसे जो चूकता है वह बादमें पछताता ही नजर आता है। विद्यार्थी-कलाका विद्याभ्यास द्वारा पूरा लाभ उठावो।

—०: ❁ :०—

११—गृहस्थ पुरुषों से

—अनेक जन्मोंको धारण कर के थके हुए इस आत्माको यह आज मनुष्य-भव मिला है। इस अनित्य समागमसे पूरा लाभ उठानेके अर्थ कर्तव्य तो यह है कि पूर्ण अहिंसक एवं पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर आत्मसाधना कर ली जावे। आदर्श निर्ग्रन्थ एव निःसंग होनेकी आवश्यकता है। ऐसा बननेकी सामर्थ्य न होनेपर गृहस्थ धर्म द्वारा अनेक उद्दण्डतावोंको समाप्त कर लेना कर्तव्य हो जाता है। गृहस्थ जीवनको उत्तमतया पार करने के लिये ३ बातोंका पालन आवश्यक है—

(१) आध्यात्मिकता, (२) आयसे कम खर्च, (३) हित मित प्रिय व्यवहार।

आध्यात्मिकता—अपने व परपदार्थोंका स्वरूप जानकर परपदार्थोंकी आसक्ति न करना और आत्मगुणोंकी ओर झुकना आध्यात्मिकता है। इस आन्तरिक वृत्तिके कारण कलह विसंवाद कपट आदि अनेक अवगुण समाप्त हो जाते है, जिससे शान्तिका साम्राज्य छा जाता है।

आयसे कम खर्चः—आयसे कम खर्च करनसे जीवनकी अनेक चिन्तायें समाप्त हो जाती हैं। कमसे कम खर्च जितना चाहे किया जा सकता है, इसके विश्वासके लिये गरीबोंपर दृष्टि डालो। इस प्रसार संसारमें संकोचका क्या काम। अपना लाभ देखो।

हित मित प्रिय व्यवहारः—आत्मशान्तिके अतिरिक्त सब अहित है। जड़

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

What wert thou ?

Nigodin i e. in the worst condition of life for an infinite period !

Haw didst thou fare there ?

Had births and deaths 23 times every second— A body without eyes, ears, nose, tongueo and mind—almost lifeless in knowledge. How miserable ? Worse than nothing ! Escaped that evil plight when luck favoured.

Becoming earth-bodied, wert dug into, pounded upon, beaten and blasted of mined.

Becoming water-bodied, wert boiled, churned and poured on the burning fire.

Became fire-bodied, wert put out by water, ash, dust and shove led.

As air bodied wert whipped by fans and lightings, and imprisoned in rubber etc.

When tree, fruit or leaf wert cut, pierced into, fried and dried.

Thou hast been insects and mosquito, fly, scorpion etc. too. Say who could save thee. On the contrary, thou wert killd by medicnies poured on thee, or trampled to death by stones, shoes and hoofs ?

Thou hast also been horse, dog, and bullock etc. and endured what suffeirngs !! Remained hungry and thirsty—faced freezing cold and burning heat, and wert lashed on top of it !

Pigs are done to death by thrusting in of daggers while moving about—or even roasted alive !

This is not another's story, but thineown.

Why hadst thou such a serry fate ? Because thou hadst augmented infatuations, indulged in passions, remained engrossed in sensual desires, (eating; drinking: and merri-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के उपयोगसे तो जड़ता और अशान्ति ही मिलती है, ऐसा जान कर सबसे हितकारी परिमित सभ्यतापूर्ण प्रिय व्यवहार रखना उन्नति का अपूर्व साधन है।

—:० ❀ ०:—

१२—गृहस्थ महिलाओं से

प्राप्त दुर्लभ इस मनुष्य जन्मकी सफलता निःशङ्क रहकर आत्मानुभवमें रमनेमें है, परन्तु इसकी असमर्थता होनेसे महिलावोंने गृहस्थ धर्म ही अङ्गीकार किया है। इसे सफलतासे गुजारनेके लिऐ इन तीन बातोंकी आवश्यकता है—(१) सत्यशीलमय वृत्ति (२) गृह कार्यकी सुन्दर व्यवस्था, (३) हितमित प्रिय वचन।

(१) सत्य शीलमयवृत्ति—शील व्रतसे रहना, दूसरोंका बुरा नहीं विचारना, न्याययुक्त ही धनका उपयोग करना, सचाई रखना सो सत्यशीलमय वृत्ति है। इससे आत्मीय गुण प्रकट होते हैं जिससे खुदको एवं दूसरोंको भी सत्य शान्ति प्राप्त होती है। यह गुण प्रधान आभूषण है।

(२) गृहकार्यकी सुन्दर व्यवस्था—रसोईका प्रबन्ध, चीजोंके रक्खे जानेकी व्यवस्था, शिशुपालन, शिशुशिक्षण आदि गृह सम्बन्धी ऐसी उत्तम व्यवस्था रखना जिसमें अन्य जीवोंकी हिंसा न हो और कुटुम्बको कोई चिन्ता न हो या रोग न हो।

(३) हितमित प्रिय वचन—जो दूसरोंको सन्मार्गमें लगावें ऐसे हितकारी वचन बोलना, साथ ही यह ध्यान रखना कि वे परिमित एवं प्रिय वचन हों।

यदि उक्त प्रकारका निष्काम कर्मयोग रखा तो यह भी गृहस्थ पदमें आत्माकी उपासना ही है। यह वृत्ति भी मोक्षमार्गमें परम्परया सहायक है।

—:० ❀ ०:—

१३—जैन धर्मका संक्षिप्त परिचय

१— जिन्होंने राग द्वेष मोहको जीतकर सर्वज्ञता प्राप्त कर ली, उन्हें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ment'; invited the influx and bondage of various *Karms*, held false beliefs, committed injustices, and devoured non-eatables.

This human body (*gati*) thou hast got with great difficulty ! And if it is wasted in the old infatuations, passions, prejudices, sensual desires, and gross emotions, thy getting this gift is all the same to thee !!!

Sometimes thou didst also become *Deva* (a dweller of the heavens), king, sovereing, or a very wealthy personage with lot of riches and splendour. But all those blessings too were futile and a source of grief ! And then thou hadst to leave them and die.

And what hadst thou now ? Nothing ! Why art thou losing all by useless clinging to this nothing ?

Oh Soul (Atman) ! Thou art an embodiment of knowledge by thine nature ! Superme ! Free ! Of the category of the Delivered Ones (*Siddhas*) ! What are thou doing ? Get up, Go on, and reside in thine own nature,

Thou art alone. Thou dost deeds of virtue and vice alone ! Reapest their fruits alone ! Alone thou contemplatest the pure Self ! and alone attainest Salvation !

Look ! Awake ! Alien is alien. To identify with the foreign is itself misery. Recognition of the self in own self is Happiness, Salvation and Supreme Bliss. This thou thy own self art ! Renounce the prospect of alien and cherish the hobby of being absorbed in self.

If thou thinkest, then think of the true aspect of the Supreme Soul. Stay in its devotion. Thinking of people, think the way that is beneficial to them.

If thou speakest, then speak to sing the virtues of the Pure Self. Go on admiring those virtues. Talking to people, utter only benficial, select, sweet words !

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

"जिन" भगवान् कहते हैं और जिन भगवान्के द्वारा प्रणीत वस्तु स्वरूपको जैन धर्म कहते हैं।

२—विदेह क्षेत्रमें जिन भगवान् सदाकाल पाये जाते हैं, किन्तु भरत ऐरावत क्षेत्रमें प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें होते हैं।

३—जो विशिष्ट रूपसे धर्मके प्रवर्तक होते हैं, वे जिन भगवान् तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर विदेह क्षेत्रमें अनन्त हुये हैं और भरत ऐरावत क्षेत्रमें अनन्त हुये हैं।

४—इस अवसर्पिणी कालमें २४ तीर्थंकर हो चुके हैं, जिसमें प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी हुए हैं।

५—आजकल श्री भगवान् महावीर स्वामीका तीर्थ चल रहा है।

६—धर्म वस्तु स्वभावका नाम है। जैन धर्ममें वस्तुके स्वभाव, गुण और परिणमनका वर्णन है। इसीके यथार्थ ज्ञानसे परमात्माका ज्ञान व मुक्तिका मार्ग प्राप्त होता है।

७—वस्तु धर्मके जानने और मुक्ति मार्गमें चलनेके लिये निम्नाङ्कित तत्त्वोंका स्वरूप ज्ञातव्य है, जिनका सम्यक् वर्णन जैन शास्त्रोंमें किया गया है—अनेकान्त, स्याद्वाद, कर्म सिद्धान्त, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, निमित्तनैमित्तक भाव, वस्तुस्वातन्त्र्य, वस्तुकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, देव, शास्त्र, गुरु, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, प्रमाण, नय, लोक, काल, द्रव्य, गुण पर्याय आदि। अभाव, षट्कारक, ।

—o: * :o—

१४—धर्म का स्वरूप

धर्म नाम स्वभावका है, प्रत्येक वस्तु जब अपने धर्मका असली रूप रखता है तब तो वह सम शान्त सुस्थित रहती है और जब किसी अन्य वस्तुका मेल पाकर अपने धर्म (स्वभावके) विपरीत अर्थात् विकृत रूपमें परिणमता है तब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह विषम अशान्त दुःस्थित हो जाता है। बस यही बात आत्मामें पाई जाती है।

सबसे पहिले तो आत्माके (अपने) विषयमें यह निर्णय करना आवश्यक है कि "मैं हूँ"। इसके लिये अनुभव अधिक प्रामाणिक है। जिस पदार्थमें सुख, दुःख बोधकी कल्पना पाई जाती है वह वास्तविक कोई पदार्थ है, अन्यथा सुख दुःख कौन करता? यदि यह कहा जाय कि सुख दुःख आदि भ्रममात्र हैं तो भ्रम ही सही, उस भ्रमको कौन करता? आधारभूत एक पदार्थके माने बिना भ्रम, सुख, दुःख, बोध आदिकी सिद्धि नहीं होती। इससे यह सिद्ध है कि जिसमें सुख, दुःख, भ्रम, बोध आदिका परिणमन हो रहा है, वह मैं आत्मा हूँ। अनुभव द्वारा आत्माकी (अपनी) सत्ता स्वीकृत होनेपर अब यह विचार कीजिये कि जो भी वस्तु होती है वह अपना स्वभाव अवश्य रखती है अन्यथा स्वभाव बिना पदार्थ क्या? मैं भी वस्तुभूत हूँ, तब मेरा भी स्वभाव है। स्वभाव वह होता है जो अनादि अनन्त अपने आप सिद्ध है। आत्मामें ऐसा तत्त्व चैतन्य पाया जाता है, जिसकी पहिचान ज्ञानभाव है, जिसका सीधा सरल चिह्न ज्ञानस्वभाव है, ऐसा प्रतीत हुआ। जहां ज्ञानस्वभाव है वहीं अनुभव है; जिसके अनुभव है, चाहे स्वभाविक परिणमन हो या वैभाविक, उसके वेदन होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्माका धर्म (स्वभाव) ज्ञानभाव है अर्थात् मात्र जानना देखना आत्माका धर्म है। इसके अतिरिक्त राग करना, द्वेष करना, मोह करना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना; संकल्प विकल्प करना आदि अनन्त क्रियायें हैं वे अधर्म हैं क्योंकि ये स्वरूपमय या अनादि अनन्त एक स्वभाव नहीं हैं।

वास्तवमें आत्माके धर्म (स्वभाव) पर दृष्टि करनेको, स्वभावके उपयोगकी निश्चलताको धर्म करना कहते हैं।

—:० ❁ ०:—

१५—शान्ति अशान्ति अर्थात् सुख और दुःख

जगत्के प्रत्येक जीव शांति अर्थात् सुख चाहते हैं, और यह बात भली भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

If thou dost, do that by which no living being dise or suffers. Make thy daily routine virtuous.

Thou art intrinsically a pure conscious Being ! Experience thine own nature. Recitc: Recite *"I am a Pure Conscious Self !!"*

REALITY

There are infinite souls in the universe and infinite times more atoms.

Every one of these souls and atoms is without a beginning and without an end.

Every Soul of self and every atom is a self existing reality and dose note subsist on any alien influence or foreign indu lgence.

Every existing reality undergoes transformation by its own modifications and not by the variations of any other entity.

Thare are two states of the soul: the first is the impure and the second the pure state.

Where the self believes in synonymity with external objects in own or alien manifestation, it is its impure state.

Where the Self is free from all mental and emotional agitations and is merely the "Knower", that is its pure state.

The Soul and the atom are entirely distinct and separate from each other. There is no entiy of any on in the entity of any other.

The manifestations in the form of animals, birds, human beings etc. by mutual contact of body and soul are the outcome of the impure state.

The molecular formation of wood, stone; brick, iron, gold, silver, body etc. is the outcome of the non-natural activities of the atoms.

Tne Soul oɔce purified, never becomes impure again. But the pure stom may again admit impurity.

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है क्योंकि शांति सुख स्वभाव है, परन्तु शान्ति सुखके यथार्थस्वरूपको न जानने के कारण संसारी प्राणियोंने जिस किसी भी रागके विषयभूत पदार्थको आश्रय मात्र करके उत्पन्न हुई रागादि वृत्तियोंमें शांति सुख मान रखा है। अतः जो भी प्रयत्न करते हैं सुख शान्तिके लिये, परन्तु प्रयत्नका फल अशान्ति दुःख ही होता है।

इस गड़बड़ीका हल, धर्म-अधर्मका स्वरूप पहिचानकर धर्मका उत्पादन और अधर्मका परिहार करना मात्र है।

धर्मसे शान्ति-सुख होता है तथा अधर्मसे अशान्ति-दुःख होता है अथवा धर्म स्वयं सुख-शान्तिस्वरूप है और अधर्म स्वयं अशान्ति-दुःखस्वरूप है।

जहां मात्र जानने देखनेकी स्थिति है एवं लेशमात्र न राग है, न द्वेष है, न इष्ट-अनिष्ट संकल्प-विकल्प हैं। वहां आकुलताका क्या काम है, जहां आकुलता नहीं, वहां सुख ही सुख है।

जहां मात्र जानने देखनेकी स्थिति नहीं है, किन्तु जानना देखना होनेपर भी जानना देखना गौण करके रागद्वेषविषयक प्रवृत्तियोंको अपनाया गया है। विषयकषायोंका आदर हो गया है, उस भावमें आकुलताका ही भाव है, जहां आकुलता है, वहां दुःख ही दुःख है।

इस प्रकार यह प्रसिद्ध हुआ कि धर्म तो सुख शान्तिका मूल है और अधर्म दुःख अशान्तिका मूल है।

—:o ❀ o:—

१९—दुःखवृद्धिका मूल भ्रम

आत्माके उपयोगका लक्ष्य परपदार्थ होना और इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति होना, इष्ट-अनिष्ट कल्पना होना, क्रोधादि कषाय करना आदि दुःख हैं। फिर भी विषयकषायके इष्टरमणकी आकुलताका तो कोई विचार न होना, प्रत्युत उनमें सुखबुद्धिका करना यह भ्रम उन दुःखोंकी वृद्धिका मूल है।

दुःखको जहां सुख समझ लिया जाय तो उस दुःखको दूर करनेका यथार्थ उपाय कैसे हो सकता है ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

The cause of the Self's impurity is its own previous impure state, while the atom's impurity arises from changes in its smooth-rough characteristics.

To identify one-self with another-Self or molecule is delusion and leads to misery.

The emotional agitations arising in the Soul are alien to its nature and therefore ephemeral and a source of anguish.

Objects have a two-fold aspect, the "General" and the Special.

The "General" in it is that which is permanent, while the Special is the transitory.

The eternal, subsisting, indivisble characteristic of objects is called the "General" and its momentary conditions or manifestations are the "Special."

(a) The contemplation of the 'General' is free from disturbance or agitation.

But in case of the "Special" there are multifarious disturbing ruffles.

(b) The "Special" exists in many forms, but the "General" has no varieties.

The condition of the "Special" in wich the inherent qualities of the Soul are in conformity with these of its "General" aspect is Salvation (Moksha). That is why there is no difference between one liberated soul and another.

The liberated souls are completely identical—All Knowing. In the devotee's true meditiation of them there remains no personality.

In the profound meditation in which there remains no individuality, the Divinity is one Such merging is pure Knowing.

Any Soul becoming Divine is absorbed in the pure Knowing Self and loses its conflicting existence.

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बस यही भ्रम जिसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन, झूठा विश्वास है सर्वदुःखोंका मूल है। भ्रम ही महापाप है। इस महापापके दूर होते ही अन्य पाप सब शिथिल हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप अन्तमें यह आत्मा अत्यन्त निष्पाप हो जाता है।

दुःख दूर करनेका उपाय भ्रम दूर करना ही है, जैसे किसी हरिणको श्वेत धूलिवाली विशाल शुष्क नदीमें रेतके प्रति जलका भ्रम हो जाय तो वह प्यास बुझानेके लिये आगे दौड़ लगाता है। वहां यद्यपि जल नहीं मिलता, किन्तु आगेकी धूलिमें भ्रम होते रहनेमें दौड़ लगाता रहता है और जीवन समाप्त कर देता है। वैसे ही मोही प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंमें सुखकी बुद्धि करके विषयभूत पदार्थोंके संग्रहमें यत्न करता है, कदाचित् कुछ संयोग हो जाय तो शान्ति तो प्राप्त होती नहीं, संतोष होता नहीं किन्तु और संयोगके लिये यत्न करता है, जिस परिश्रमसे संक्लिष्ट होकर जीवन समाप्त कर देता है और आगेके भवमें इससे भी निकृष्ट स्थिति पाता है। भ्रम ही महापाप है; सर्वदुःखका मूल है। भ्रमको सम्यग्ज्ञानके उपायसे दूर करो।

—o: ❀ :o—

१७—भ्रम दूर करने का उपाय—भेदविज्ञान

किसी पदार्थका अन्य पदार्थके साथ सम्बन्ध मानना भ्रम है, जिससे प्रकृत में यह बात सिद्ध होती है कि आत्मा का (अपना) कोई अन्य पदार्थ है अथवा किसीका मैं हूं एवं अन्यकी परिणतिसे मैं परिणम जाता हूं, मेरा परिणतिसे अन्य परिणम जाता है, मैं अन्यको सुखी दुःखी करता हूँ व अन्य मुझको करता है आदि सम्बन्धकी बुद्धि भ्रम है—जो समस्त क्लेशोंका मूल है। इसके दूर करने का उपाय भेदविज्ञान है अर्थात् प्रत्येक वस्तुका जो स्वलक्षण है उससे ही तन्मय अन्यसे पृथक् जैसा कि वस्तुस्वरूप है जानना है।

पदार्थ, पदार्थ तब ही रहता है जब कि वह अन्य सर्वके स्वरूप, परिणमन से पृथक् हो अन्यथा पदार्थ हो ही नहीं सकता। इस प्रकार जो अनन्तानन्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

This one is the Truth. This is Salvation. This the 'Word Supreme' (*Om*), the 'Knowledge Supreme, (*Tat*) the 'Reality Superme' (*Sat*) This is Existence Absolute (*Sat*), 'Knowledge Absolute' (*Chit*), Bliss Absolute' (*Anand*); or the Sublime (*Satyum*), the Blissful (*Shivam*) the 'Elegant' (*Sundaram*).

TO STUDENTS

Student life is privileged only to man among all living beings in the world. Paving the way to progress is the only trait of student-life.

For their progress, the students are to gain command over the following three things.

(i) Courtesy (ii) Chastity or celibacy & (iii) Studies.

Courtesy; Learning from self or others is the fundamental secret of prosperity, Faculties are attained easily through courtesy, Blessings and gifts from teachers and others are bestowed. The courteous can never be unhappy. The courtesy is materialized through service.

Chastity or celibacy. Semen is the vigour of the body and pure feelings constitute the strength of a soul. If both are to be strengthened pure feelings and semen should be preserved. Restorat on of semen is difficult with impure thoughts. Chaste thoughts help preservation. Thus observe chastity through virtuous mode of living.

Studies—Intellect is so splendid in student period that whatever is learned is easily retained. One who misses the opportunity is seen repenting later on Hence the student-period should be fully utilized throngh studies.

JAINISM IN A NUT SHELL

(1) Jina is that who having conquered illusion, affection and malice, has attained omniscience. And, the nature of substances set forth by Jina, is JAINISM.

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(2) Jina Lords are always present in Videh Kshetra, but in the Bhart and Airavat Kshetras, they are present in the fourth era of the two aeons (i) causing increase & (ii) causing decrease.

(3) Those lords, the Jinas, are called Tirthankars who promulgate the religion matchlessly Such Tirthankars have been infinite in Videh, Bhart and Airavat Kshetras.

(4) Twenty-four Tirthankars. have been in the previ us fourth era of the aeon, causing decrease. Out of them, Lord Rishabhnath was the first and Lord Mahavir was the last Tirthankar.

(5) Now the religion premulgated by Lord Mahavir prevails.

(6) Dharma is the nature of a subsance. In Jainism, there is description of nature, attributes and manifestations of substances. The Knowledge of the simple soul and supreme souls as well as the way of salvation is attained through the snblime knowledge of the above.

(7) The characteristics of the following catergories ought to be known by the aspirer, for knowing the Vastu Dharma and for following the path of salvation:— Poly-attribute, Relativity, Law of Karma, Right perception, Right knowledge, Right character, Causation, Individuality, the identity of manifestation, disapp earance and continuity in the substances, Non-violence, Truth, Non-theft, Chastily, Non-possession. Supreme soul, Influx, Bondage, Restraint, Shedding of Karma, Salvation, Evidence, View, World, Time, Substance, Attriobute, Modification etc.

—:o ❋ o:—

मुद्रक—मैनेजर, शास्त्रमाला प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्रुव है और दर्शन चारित्र आदि सर्वशक्तियोंमें तन्मय चैतन्यस्वभावी निज आत्मा ध्रुव है। इस तरह त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव ध्रुव है और पर्यायें अध्रुव हैं। मैं चैतन्यस्वभावी हूँ, इस ध्रुव तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कल्पनायें राग द्वेषादि सब मैं नहीं हूँ क्योंकि मैं ध्रुव हूँ, ये सब अध्रुव हैं। इस प्रकार आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग द्वेष संकल्प विकल्प आदि सब परिणमनोंमें भिन्न ध्रुव चैतन्यस्वभाव पर लक्ष्य रखना व इस ही अभेदस्वभावमें परिणत होना, भेदविज्ञान व भेदविज्ञानका फल है।

—:•:—

१६—भेद विज्ञानी (धर्मी) की प्रवृत्ति

जिसने निज चैतन्यस्वभावके उपयोग द्वारसे दर्शन किये हैं ऐसा पुरुष पूर्वसंचित कर्मके विपाकको निमित्त करके कभी प्रवृत्तिमें आता है, तब उसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिकी अत्यन्त उपेक्षा करके नहीं होती क्योंकि धर्मीका मुख्य लक्ष्य निवृत्तिमय चैतन्यस्वभाव है। प्रवृत्तियाँ मन वचन कायके द्वारा होती हैं सो ज्ञानी मन वचन कायकी ऐसी प्रवृत्तियाँ करता है, जिसमें इन्द्रिय व मन निरंकुश नहीं होते एवं अन्य के प्राणोंको बाधा नहीं पहुँचती, इसको इन्द्रिय संयम और प्राणसंयम कहते हैं। इस ही उद्देश्यकी पूर्ति धर्मीकी चर्यामें है। जैसे— मद्य, मांस, मधु, अभक्ष्य फल आदि न खाना, रात्रिमें भोजन न करना, बिना छना जल उपयोग में न लेना, अनियमित भोजन न करना, वीतराग पवित्र परमात्माकी उपासना करना, गुरु-सम्मानमें अधिक समय लगाना, ज्ञानवृद्धिके उपाय स्वाध्याय अध्ययन आदि करते रहना, प्राप्त तन, मन, धन वचनको परोपकारमें लगाना, गुरुओंकी सेवा करना, इच्छाओंको रोकना, देखकर चलना, देखकर चीज उठाना व धरना, देखकर मलक्षेप करना, किसीका चित्त या प्राण नहीं दुखाना, अहित अप्रिय कटु वचन न बोलना, चोरी न करना, कुशीलका त्याग करना, परिग्रहकी तृष्णा न करना आदि। यही सब व्यवहार धर्म हैं, तीर्थ हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आप्तमीमांसा प्रवचन

[भाग ५, ६]

卐

प्रवक्ता :

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द जी' महाराज

●

प्रबन्ध-सम्पादक :

बैजनाथ जैन, ट्रस्टी सदस्य सहजानन्द शास्त्रमाला

यादगार महल्ला, सहारनपुर

●

प्रकाशक :

खेमचन्द जैन सर्राफ

मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

२०—धर्म की विशेषता

धर्म—सहजस्वभावको कहते हैं। इसकी पहिचान "इसको अनेक दृष्टियोंसे परीक्षित करनेपर यथार्थस्वभावकी प्रतीति" हो पाती है। इस उपाय को 'स्याद्वाद' कहते हैं।

धर्म—वैज्ञानिक खोज है। सत्य विज्ञानकी कसौटीसे विरुद्ध भाव धर्म नहीं हो सकता।

धर्म—का आचार व्यवहार करते हुए कितनी श्रेणियोंसे गुजरा जाता है, उनमें से किसी भी श्रेणीपर ठहरे हुए धर्मात्माके ऐसा योग्य आचार-व्यवहार होता है, जिसमें ऐसी न्यूनाधिकता नहीं रहती कि कोई आचार व्यवहार उस श्रेणीसे अत्यन्त न्यून हो व कोई अत्यन्त अधिक हो।

धर्म—स्वतन्त्रताका पोषण करता है। स्वातन्त्र्य धर्म है, स्वच्छन्दता धर्म नहीं।

धर्म—के स्वरूपके उपयोगसे सहज ही सर्वप्राणियोंमें परम मैत्रीभाव समानता का उपयोग हो जाता है।

धर्म—अर्थात् आत्माके सहज स्वभावके अवलोकनके अनंतर विरति अविरतिका विवेक त्वरित हो जाता है।

धर्म—भावके ज्ञाता सर्वएकान्तदर्शनोंकी ग्लानि दूर कर लेते हैं और उनसे अपूर्व अंशोंकी पूर्ति कर लेते हैं।

—०:※:०—

धर्मके पहिचानने की शैली स्वाश्रित-दृष्टि

अन्य पदार्थकी किसी भी प्रकार जहां अपेक्षा नहीं है ऐसी केवल एक ही वस्तुके आश्रयसे बनी हुई दृष्टि धर्मके मर्मको पा लेती है। इस दृष्टिको "स्वाश्रित दृष्टि" कहते हैं। आत्माके साथ जिस परद्रव्यका संयोग है ऐसे कर्म और शरीर की अपेक्षा या सम्बन्ध न लेकर तथा परद्रव्यके संयोगको निमित्तरूप आश्रयमात्र करके रहने वाले योग उपयोगको न देखकर मात्र आत्माके आश्रयसे स्थायी त्रैकालिक भावको देखनेसे धर्मका मर्म द्रष्टाके अनुभूत होता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर्म और शरीरका आत्मामें अत्यन्ताभाव है। अतएव आत्मासे कर्म व शरीर भिन्न है। तब कर्म और शरीरका किसी भी प्रकारका कार्य आत्मधर्म कैसे हो सकता है।

कर्म और शरीरको निमित्त पाकर जो आत्मामें भाव बनते हैं, उनको परका निमित्तरूप आश्रय करना आ गया; अतः क्रोध, मान, माया, लोभ, संकल्प-विकल्प आदि भी आत्मधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार आदर—सत्कार, विनयपूजन, भक्तिचर्चा आदि अनुरागस्वरूप एवं पराश्रित होनेके कारण आत्म-धर्म नहीं हैं।

अपूर्णज्ञान पूर्णताके प्रतिबंधकको निमित्तमात्र पाकर होनेके कारण आत्मधर्म नहीं है। पूर्णज्ञान जाननरूप कार्यको निरन्तर करता रहता है। वह जाननरूप कार्य यद्यपि प्रति समयका समान है तथापि नव-नव कार्य हैं, क्योंकि वह समयको आश्रय करके हुआ है। अतः पूर्णज्ञान भी आत्मधर्म नहीं है, किन्तु शुद्धपर्याय है और वह शुद्धपर्याय ही अनन्त सुखस्वरूप है। इसकी प्राप्ति का उपाय आत्मधर्मका लक्ष्य, आश्रय व उपादान है।

आत्मधर्म चैतन्य अथवा ज्ञानभावकी अशुद्ध या शुद्ध समस्त परिणतियोंमें जो एकतत्त्व है, जिसपर परिणतियाँ होती हैं वह मात्र स्वके आश्रित होनेसे आत्मधर्म है। आत्मधर्म सदा प्रकाशमान है। जो अनुभव करले वह धर्मात्मा है।

—: ● :—

२२—धर्म और मत

धर्म तो वस्तुके स्वभावको कहते हैं और मत धर्मको किसी ही दृष्टिसे किसी रूप निर्णय-सा करके उसकी प्राप्तिके लिये आचार-विचार व्यवहारको मान्यताको कहते हैं। इस तरह मत अनेक हो जाते हैं, परन्तु धर्म तो वही एक है। जो इस एकको पहिचान जाते हैं वे समस्त विवाद विपदासे दूर होकर सत्य पथिक हो जाते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धर्मके मर्मको जाननेके लिये अपेक्षावादका व्यवहार आवश्यक है एवं धर्मके मर्मका अनुभव करनेके लिये अपेक्षावादसे परे तथा सापेक्ष निरपेक्षके विकल्पसे परे मात्र अनाकुलस्वरूप ज्ञानस्वभावका वेदन आवश्यक है।

धर्मका अवलोकन करने वालोंकी मान्यता धर्मविषयक मत है और उनके तन मन वचन धनके उपयोग करनेकी रीति व्यवहारधर्म है। गृहस्थोंकी अपेक्षा से व्यवहारधर्मकी बाह्य शक्ल किस प्रकार हो जाती है? इसकी कुछ मुख्य भागोंमें व्याख्या इस प्रकार है:—

(१) वस्तुस्वरूप सम्बन्धी भ्रमका विनाश, वस्तुस्वातन्त्र्यका अवलोकन। (२) हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापोंसे विराग। (३) वीतराग विज्ञानमय परमात्माकी उपासना। (४) स्वाध्याय उपदेश चर्चा आदि द्वारा सम्यग्ज्ञानोपासनाकी लगन। (५) मद्य, मांस, मधु, उदम्बर, रात्रिभोजन आदि अभक्ष्योंका त्याग। (६) मुमुक्षुओंकी विविध वैयावृत्यमें तन मन वचन धनका उपयोग। (७) समस्त प्रवृत्तियोंमें हिंसा न होने देनेकी सावधानी।

—:●:—

२३–आधुनिक सम्प्रदायोंका शब्दगर्भित ध्येय

धर्म एक वस्तुस्वभाव है, जो स्वयं सुखस्वरूप है एवं हिंसादि पापोंसे दूर है। वह ही तत्त्व सर्वसम्प्रदायोंके नामके शब्दोंसे ध्वनित है। यथा—

जैन—मिथ्यात्व राग द्वेष आदि शत्रुओंको जीतने वाला जिन कहलाता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानस्वभावसे प्रकट हुआ परमात्मा जिन है और जिन भगवान् द्वारा आदिष्ट उपदेशोंको मानने वाला जैन है।

शैव—शिव परमसुख या परमकल्याणको कहते हैं। वह परमसुख आत्माकी विशुद्ध अवस्थास्वरूप है, उसकी उपासना करनेवाला शैव है।

ईश्वरवादी—जो अपने अनन्तज्ञान आदि ऐश्वर्यसे सम्पन्न है उसे ईश्वर कहते हैं, उसकी उपासना, स्तुति करनेवाला ईश्वरवादी है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ब्रह्मोपासक—जो अपने गुणोंसे वर्द्धनशील है एवं अपनी सृष्टिमें स्वतन्त्र है, उसे ब्रह्मा (आत्मा) कहते हैं, उसकी उपासना करने वाले ब्रह्मोपासक हैं।

रामभक्त—योगीजन जिसमें रमण करें वह राम (आत्मा) है, उसके सेवक को रामभक्त कहते हैं।

वैष्णव—जो सर्वत्र व्यापे सो विष्णु (ज्ञान) है, उसकी उपासना करने वाला वैष्णव है।

बौद्ध—जो सर्व चराचर जगत्को जाने सो बुद्ध (शुद्ध ज्ञान) है, उसके सेवकोंको बौद्ध कहते हैं।

हरिभक्त—जो पापोंको हरे सो हरि (निर्मलज्ञान) है। हरिके सेवनेवाले हरिभक्त हैं।

हिन्दू—जो हिं=हिंसासे, दू=दूर हों सो हिन्दू हैं, वस्तुतः हिंसा राग द्वेष को ही कहते हैं। उससे दूर ज्ञानस्वभाव है, उसके माननेवाले हिन्दू हैं।

पारसी—पारस (पार्श्व) समीप को कहते हैं। समीपमें रहने वाले भगवान् आत्माको माननेवाले पारसी हैं।

सिक्ख—(शिष्य) ज्ञानस्वभावरूप धर्मके अनुशासन उपदेशमें रहनेवाले सिक्ख हैं।

मुसलमान—मुसले ईमान, ईमान (सत्य ज्ञानस्वभाव) पर दृढ़ रहने वाले मुसलमान हैं।

नैयायिक—न्याय (यथार्थस्वभाव) को मानने वाले नैयायिक हैं।

वैशेषिक—विशेष (असाधारण गुण ज्ञानस्वभाव) के मानने वाले वैशेषिक हैं।

मीमांसक—निज स्वभावके मनन, विवेचन करनेवाले मीमांसक हैं।

यौग—योग (समाधि-ज्ञानस्वभाव) को उपासना करने वाले यौग कहलाते हैं।

ईसाई—ईश स्वामीको कहते हैं, यह अनुभूत निज आत्मा भगवान् है, उसके भावकी उपासना करनेवाले ईसाई कहलाते हैं।

राधावल्लभ—राध् संसिद्धौ, राधा आत्मसिद्धिका नाम है और आत्मसिद्धि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के रुचिवान् अथवा स्वामीको राधावल्लभ कहते हैं।

आर्य—जो विशुद्ध और सारभूत तत्त्वको परिणमे वह आर्य हैं। वह है अपनेमें चैतन्यस्वभाव, उसकी उपासना करनेवाले आर्य कहलाते हैं।

सनातनी—सना–तन अर्थात् सदासे अनादिसे और अनन्त काल तक रहने वाले तत्त्वको सनातन कहते हैं, वह है अपनेमें चैतन्य स्वभाव, उसकी उपासना करने वाले सनातनी कहलाते हैं।

इत्यादि सम्प्रदायोंके नाम ज्ञानस्वभाव-आत्मधर्मको सूचित करते हैं।

आत्मधर्मकी सिद्धिके लिये ऐसा योग करना आवश्यक है कि किसी भी पर्यायदशामें आत्मबुद्धि न करके अपने आपको "ज्ञानमात्र हूँ" ऐसा अनुभव करना। जिस कुलमें, जिस मजहबमें, जिस जातिमें अपनेको मानता आया हो, उस जाति, कुल, महजब आदिका निषेध करके कि मैं न अमुक जातिवाला हूं; न मनुष्य हूँ, न धनी हूँ, न गरीब हूँ, न योगी हूँ, न भोगी हूं. आदि सर्वनिषेध करके मैं एक ज्ञानमात्र हूं, इस अन्तरनुप्रेक्षासे सर्वविकल्पोंको दूर करना, फिर जो अनाकुल प्रतिभासमय अनुभवन है, वही धर्मका चमत्कार है।

—:० ❀ ०:—

२४—धर्मी

धर्म—(स्वभाव) वान्‌को धर्मी कहते हैं। स्वभाव निराश्रय (पदार्थके बिना) नहीं है। अतः आत्मधर्म चैतन्य चेतन आत्माके आश्रय है अर्थात् स्वभाव का स्वभाववान् से तादात्म्य है। यह चेतन अनन्त शक्त्यात्मक है। इस चेतनमें जानना देखना अनाकुल रहना आदि अनन्तधर्म (गुणशक्ति) हैं। अमूर्त रहना, परिणमना आदि अनन्त धर्म हैं। यद्यपि चेतन जो है सो है तथापि जब उसको पहिचाननेके लिये विशेषका उपाय ग्रहण करते हैं, तब इन शक्तियोंको जानकर सर्वशक्तियोंसे अभेदस्वभावरूप यह चेतन प्रतिभास होता है।

धर्मी एक है, उसका परिज्ञान उसकी शक्तियोंसे होता है। इसके जितने परिणमन समझमें आते हैं उतनी ही शक्तियोंका मीमांसक पुरुष ज्ञान करता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह इतनी शक्तियोंको देखता है कि ऐसा कहनेमें आने लगे कि इन सब शक्तियों का पिण्ड आत्मा है। कल्पना की जावे कि एक एक करके सारी शक्तियां अलग करदी जावें तो चेतन-वस्तु कुछ भी न रहे। यथार्थतया तो चेतनवस्तु एक है, शक्तियाँ तो उसकी पहचान हैं। द्रव्य है और उसका पर्याय। सद्भूत वस्तु धर्मी है, धर्म उसका स्वभाव है। आत्माका स्वभाव चैतन्य है। चैतन्यमें आत्माके अनेक स्वभाव गर्भित हैं।

—:० ❋ ०:—

२५—स्वातन्त्र्य

जगत्में पदार्थ उतने हैं, जितने कि वे पदार्थ एक दूसरेसे नहीं मिल सकते। सबसे भिन्न रहकर अपने स्वरूपमें एक अद्वैत रहते हैं। वे पदार्थ इस प्रकार हैं—अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक गमननिमित्तभूत धर्मद्रव्य, एक स्थितिनिमित्तभूत अधर्मद्रव्य, एक आकाश, अनन्तसमयरूप पर्यायके कारणभूत असंख्यात कालद्रव्य। ये सब अनादि स्वतःसिद्ध, अखंड और परिणमनशील हैं। किसी एकका परिणमन किन्हीं भी दूसरोंमें नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने पिण्ड में ही क्रिया करता है, दूसरेमें नहीं है। इस तरह प्रत्येक द्रव्योंकी स्वतन्त्रता है, कोई द्रव्य किसी अन्यका कुछ परिणमन नहीं करता, सुधार बिगाड़ नहीं करता। हां, इतनी बात अवश्य है कि वस्तुके कितने ही परिणमन अन्य द्रव्यको सन्मुख, निमित्त, आश्रयमात्र पाकर अपना विकार कर पाते हैं। एतावता कोई किसीके आश्रित नहीं हो जाता। निमित्त पाकर भी वस्तु परिणमती अपनेमें, अपने धर्म द्वारा, अपने लिये, अपने आप। आत्माकी भी ऐसी स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रताके पहिचान लेने पर स्वभाव-निरीक्षकके पराश्रय लक्ष्य नहीं रहता है। इस परद्रव्यविषयिनी व्यावृत्तिसे वह ज्ञाता द्रष्टास्वभावरूप अपनेमें झुकता है, लीन होता है। अतः मोह राग द्वेषसे पृथक् होकर यह चेतन निर्मल विज्ञान घन ध्रुव चैतन्यस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके निर्मल ज्ञानोपयोगी होकर स्वयं परिणम जाता है। इस तरह आत्मा स्वतन्त्र है, उसका स्वभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वतन्त्र है, किसी परद्रव्यके आधीन नहीं है। इस तरह धर्मीकी स्वतन्त्रताको पहिचान कर स्वतन्त्र स्वभावका लक्ष्य, उपादान करना शांतिका मार्ग है।

—:o ❀ o:—

२६—भेदविज्ञानकी क्रमशैली और और अधर्म (अभेद स्वभाव) में पहुँच

१—मैं चेतन सर्व धन वैभव आदि अचेतन पदार्थोंसे न्यारा हूँ, क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूं, ये सब जड़ हैं।

२—मैं चेतन दिखने वाले इन सर्वजीवोंसे जो मूर्त साकार बन रहे हैं न्यारा हूँ, क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक अमूर्त निराकार हूं, ये सब मूर्त साकार भिन्न परिणमन वाले हैं।

३—मैं चेतन इन जीवोंमें रहने वाले चैतन्यभावके आधारभूत चेतनोंसे भी भिन्न हूँ क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक स्वयं हूँ, ये सर्वप्रतिभासमय होकर भी प्रत्येक भिन्न परिणमन वाले हैं।

४—मैं चेतन इस देहसे भी न्यारा हूँ क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूँ, यह देह जड़ अनेक पुद्गलाणुओंका पुञ्ज है।

५—मैं चेतन कषायादिको निमित्त पाकर कर्मस्वरूप होने वाले कार्माण शरीरसे न्यारा हूँ क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूं, ये कर्म जड़ और भिन्न परिणमन वाले हैं।

६—मैं चेतन कर्मोंके उदयको निमित्तमात्र पाकर होनेवाले विकार भावोंसे न्यारा हूं क्योंकि मैं प्रतिभासमय ध्रुव एकस्वरूप व स्वाश्रित हूँ, ये विभाव जड़, अध्रुव और विषय एवं पराश्रित हैं।

७—मैं चेतन अपूर्ण ज्ञानादिक दशाओंसे भिन्नस्वरूप हूं क्योंकि मैं पूर्ण स्वभाव एकस्वरूप त्रैकालिक हूँ, ये अपूर्णज्ञानादिक अपूर्ण अनेकावस्था एवं अनित्य हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

८—मैं चेतन पूर्ण शुद्धपर्याय (केवलज्ञान आदि) से विलक्षण हूँ क्योंकि मैं त्रैकालिक हूँ और सब परिण[illegible]का मूल हूँ। किन्तु केवल ज्ञानादिक क्षणिक (सदृशपर्यायसे सदा रहने व[illegible] परिणामरूप हैं।

९—मैं सब अनेकोंका निषेध [illegible] प्रसिद्ध होनेवाले एकसे न्यारा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं अद्वैत प्रतिभासमय ए[illegible] स्वभावी हूं।

—:o ※ o:—

२७—धर्मी के आदरणीय

जिसने सर्व परभावोंसे पृथक् निज अनन्त शक्तियोंके अभेदस्वरूप चैतन्यमय अनाकुल निजपदार्थका निर्विकल्प रूपसे अनुभव किया है, उसके अनुभवके पश्चात् यदि अनुरागभाव आये तो निर्विकल्प शुद्ध आत्माओंमें तथा निर्विकल्प शुद्ध होनेके प्रयत्नमें लगे हुए अन्तरात्माओंमें अनुराग होता है। ये आदरणीय अवस्थायें ५ होती हैं—

(१) जो निज शुद्ध आत्माकी तीव्र रुचिके कारण गृह परिवार, धन, वस्त्र आदि सर्व परिग्रहोंका संन्यास (त्याग) कर चुके हैं, मात्र समाधिकी इच्छासे आवश्यक जीवन रखनेके अर्थ भिक्षावृत्तिसे भक्तिमान गृहस्थके गृह दिनमें एक बार जब आवश्यक समझते हैं, आहार लेते हैं और निरन्तर आत्मसाधनोंमें निरत रहते हैं, ऐसे संन्यासीका पद।

(२) संन्यासियोंके समूहके नायक सूरि संन्यासी जो संन्यासियोंको समाधान रूप रख सकते हैं।

(३) पाठक संन्यासी जो विशिष्ट ज्ञानी साधूसमूहको उच्च अध्ययन कराते हैं।

(४) उक्त संन्यासी जब निर्विकल्प शुद्धात्माके अनुभवमें अधिक रहते हैं, तब वे सर्वज्ञ वीतराग हो जाते हैं, इन्हें सशरीर शुद्धात्मा या साकार परमात्मा अथवा सगुणब्रह्म कहते हैं।

(५) साकार परमात्मा जब आयु-समाप्तिके क्षणमें शरीररहित हो ज[illegible]

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं तब लोकाग्रमें अवस्थित होकर सदाको सर्वथा शुद्ध रहते हैं, इन्हें अशरीर शुद्धात्मा या निराकार परमात्मा अथवा नि[illegible] ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार धर्मात्माके आदरणीय ये पंचविशिष्ट[illegible] है। साधारणतया भेदविज्ञानी भी उसके आदरणीय हैं। इनके आद[illegible]वसे निज उपयोगमें बल बढ़ता है। अतः अनुरागकी वृत्ति उठे तो इन पञ्च[illegible]ष्ठी (परमपदमें स्थित) की शरण लेना उत्तम है।

—:o ❋ o:—

२८—धर्मी के चिन्तन कण

१—मैं अनादि अनन्त चैतन्यस्वभावी अमूर्त आत्मद्रव्य हूं।

२—हे प्रभो ! हे शुद्धात्मन् ! जैसा तू शक्तिमान्, स्वभाववाला द्रव्य है, वैसा ही मैं शक्तिमान् स्वभाववाला हूँ।

३—मैं सर्वपदार्थोंसे जुदा हूँ; न मैं दूसरोंका हूँ, न मेरे दूसरे हैं; मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं।

४—क्रोध, मान आदि सब दशायें नैमित्तिक भाव हैं, विनाशीक हैं, उन स्वरूप मैं नहीं हूं।

५—अहो ! ये विकल्प जाल उठ रहे हैं, उठ भागो, तुमसे मेरा नाता नहीं, मैं ज्ञानमात्र हूँ।

६—मैं अहेतुक अनादि अनन्त ध्रुव हूं, सदा सुरक्षित हूं।

७—मैं सर्वपर्यायोंमें जानेवाला, किसी भी पर्यायरूप न रहने वाला त्रैकालिक एक हूँ।

—:o ❋ o:—

Report any errors at vikasnd@gmail.com